अभिज्ञानशाकुन्तलम् के भरतवाक्य में नाट्यसंविधान एवं लोकहित

प्रदीप कुमार मिश्र
pradeepmishravns@gmail.com

शोधसार

नाट्यशास्त्रमें नाट्यप्रयोक्ता और स्वयं कविके लिए भी एक संज्ञा 'भरत' दी गई है, जिसके अन्तर्गत सूत्रधारसे लेकर नाटकके सभी पात्रों तथा शिल्पीगणोंका समावेश होता है।[1] यही कारण है कि नाटकोंके अन्तमें लोकहितकी कामनासे उद्धृत किया जाने वाला कथन भी 'भरतवाक्य' सञ्ज्ञासे अभिहित होता है। स्वयं भरतमुनिने भी नाट्यशास्त्रकी समाप्तिपर ऐसे कथनका उल्लेख किया है[2] परम्परानुसार रूपकोंमें प्रयुक्त भरतवाक्योंका अन्यतम स्थान तथा महत्त्व है। इनमें पुरुषार्थ-चतुष्टयकी साधनाके साथ ही 'वसुधैव-कुटुम्बकम् की भावना मूर्तरूप लेती परिलक्षित होती है। संस्कृत-रूपकोंकी श्रङ्खलामें कतिपय रूपक ऐसे हैं जिनके भरतवाक्य उपदेश या आशीर्वचनमात्र न होकर 'लोक-जीवन' के आदर्श-स्वरूपके उपस्थापक हो गए हैं। यथा- कर्णभारम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मृच्छकटिकम्, विक्रमोर्वशीयम्, रत्नावली आदि।

कालिदासके ग्रन्थोंमें व्यावहारिकजीवनको उपस्थापित करने वाले तत्त्व प्रचुरतासे प्राप्त होते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'में भी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं पारिवारिक चित्रण अत्यन्त कुशलतासे किया गया है।

कालिदासकी शैलीकी सबसे बड़ी विशेषता है ध्वन्यात्मकता। इसके द्वारा वे व्यापक विषयोंको भी सहृदयोंद्वारा अनुभूत होनेके लिए 'व्यङ्गय' बनाकर छोड़ देते हैं। शाकुन्तलका भरतवाक्य उनके इस शैली-वैशिष्ट्यका निदर्शन है। जहाँ एक ओर नाट्यधर्मका पालन करते हुए उन्होंने लोकजीवनको नाटकके सम्पूर्ण पात्रोंमें विकीर्ण किया वहीं दूसरी ओर उसी लोकचेतनाको भरत-वाक्यमें 'ध्वनि' बनाकर रसचर्वणाका विषय बना दिया।[3]

---

1 नाट्यशास्त्र : ३५/८९-९०

2 किञ्चान्यत् सस्यपूर्णा भवतु वसुमती शाश्वती नष्टरोगा।
शान्तिर्गोब्राह्मणानां नरपतिरवनिं पातु चेमां समग्राम्।। नाट्यशास्त्र : ३६/८३।।

3 प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगत शक्तिरात्मभूः।।अभिज्ञानशाकुन्तलम् : ७/३७।।

'शाकुन्तलम्'का 'भरतवाक्य' वस्तुतः सम्पूर्ण नाटकमें सहृदयहृदयसुलभ लोक-चेतनाकी अभिव्यञ्जना है। प्रस्तुत पद्यका एक-एक पद विवेच्य है। यथा-**प्रवर्ततां क्यों?** क्या कालिदासके पार्थिवका स्वभाव ही प्रकृतिहित नहीं है। इसका प्रमाण नाटकमें प्रकीर्ण तन्तुओंमें मिलता है, जब प्रथम अङ्कमें ही संयमित जीवनके कुछ व्यग्र-शब्द कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट होते हैं—

भो भो राजन् ! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः। [1]

इन निषेधपरक वचनोंके अनन्तर ही कालिदासका 'पार्थिव' हाथमें धनुषपर बाण चढ़ाए दिखाई पड़ता है, और दिखाई पड़ते है निषेध-निर्देश हेतु हाथोंको उठाए हुए शिष्ययुगल सहित एक तपस्वी जो 'पार्थिव' दुष्यन्तको उनके कर्तव्योंका बोध करा रहे हैं।[2]

तपस्वी मानो क्षितिपति दुष्यन्तको उनके कर्तव्योंकी 'निकष'की ओर अभिमुख करता है|[3]

शकुन्तलासक्त दुष्यन्त स्वयंको प्रकटकर अपने अभिज्ञानगोपन हेतु 'कैतव' भी बनाता है तो लोक-प्रसिद्ध राजधर्मको ही|[4]

तात्पर्य यहकि दुष्यन्त अपने प्रेमका रसास्वदन भी करेगा तो प्रकृतिहिताय प्रवर्तित होकर ही। उसे इसका समर्थन भी अनसूयाके कथनसे मिलता है|[5]

चेतना प्रेमविवश भी दुष्यन्तको लोककर्तव्योंका निर्वहन करते देख हृष्ट होती है कि तपस्वियोंके शोर[6]से संदेह उत्पन्न होने लगता है और कविद्वारा प्रयुक्त "प्रवर्ततां" पद अत्यन्त सारगर्भित प्रतीत होने लगता है किन्तु तभी कविके वचन को उसका नायक सार्थकता प्रदान करता है और आश्रमजीवनके रक्षार्थ तत्पर होने को कहता है।[7]

---

1 वही : १/९ (नेपथ्योक्ति)।
2 तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।। वही : १/१०।
3 रम्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः क्रियाः समवलोक्य।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वी किणाङ्क इति।।वही : १/१२।
4 भवति! यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः–
सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।वही : पृ० ६८।
5 सनाथा इदानीं धर्मचारिणः।वही : पृ० ६९।
6 भो भोस्तपस्विनः! सन्निहितास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत।
प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवो दुष्यन्तः। वही : पृ० ८५।
7 अहो धिक्पौरा अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति।
भवतु। प्रतिगमिष्यामस्तावत्। गच्छन्तु भवत्यः।
वयमप्याश्रमपीडा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे। वही : पृ० ८७।

पुनः द्वितीय अङ्कके आरम्भ में ही हास्यप्रिय विदूषक अपने उपालम्भसे दुष्यन्तको मानो उसके लोक-जीवनके उत्तरदायित्वोंका बोध कराता सा प्रतीत होता है।[1]

सेनापतिके द्वारा मृगया हेतु उत्प्रेरित किये जाने पर भी लोकज्ञानसे संवलित राजा मर्यादा विमुख नहीं होता।[2]

राजाकी सर्वशक्तिमत्ता होने पर भी दुष्यन्त अपनी अन्तश्चेतना द्वारा लोककर्ममें निरत किया जाता है। इसका प्रमाण भी वह स्वयं देता है।[3]

तत्कालीन राजा प्रजासे करके रूपमें षष्ठांश लेता था। कालिदासकी तत्सम्बन्धी अनुशास्ता दृष्टि दुष्यन्तको विदूषकके उकसाने पर भी अनुशासनहीन नहीं होने देती।[4]

राजाका कर्तव्य है कि वह अपनी प्रकृतिके सर्वविध हितका साधन करे। कालिदासके पार्थिवकी लोकचेतनाकी प्रवर्तता तब और पुष्ट हो जाती है जब महर्षि कण्वके दो शिष्य प्रजारक्षाको पुरुवंशानुगत धर्म सिद्ध कर देते हैं।[5]

तृतीय अङ्कमें सायंकाल शकुन्तलाके चले जाने पर कामपीड़ित दुष्यन्त संयोगस्थलसे जानेमें असमर्थ सिद्ध होता है। किन्तु तभी आकाशघोष[6] सुनकर तत्काल उद्यत हो उठता है।[7]

पञ्चम अङ्कके आरम्भमें विश्रामरत भी दुष्यन्त शाङ्र्गरव इत्यादिके उपस्थित होनेपर अपने लोकधर्ममें सन्नद्ध हो प्रतीहारीसे प्रथम यही प्रश्न पूछता है।[8]

अवगुण्ठनरहित शकुन्तलाका अनिन्द्य सौन्दर्य देखकर भी शापवश लुप्तस्मृति दुष्यन्त शकुन्तलामें अनुरक्ति नहीं दिखाता। उसकी यह लोकनिष्ठा प्रतीहारीके कथन से स्पष्ट है।[9]

---

1 एवं राजकार्याण्युज्झित्वा एतादृश आकुलप्रदेशे
वनचरवृत्तिना त्वया भवितव्यम्। वही : पृ०९८।

2 भद्र सेनापते, आश्रमसन्निकृष्टे स्थिताः स्मः।
अतस्ते वचो नाभिनन्दामि। वही : पृ०१०७।

3 शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्तितेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।। वही : २/७।

4 यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयितद्धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यकाहिनः।।वही : २/१३।

5 अनुकारिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।
आपन्ना भयसत्रेषु दीक्षिताः खलु पौरवाः।। वही :२/१६।

6 सायंतने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदिं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
सन्ध्या पयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्।। वही : ३/२४।

7 अयमहमागच्छामि। वही : पृ०१७९।

8 किं तावद् व्रतिनामुपोढतपसां विघ्नैस्तपोदूषितं
धर्मारण्यचरेषु केनचिदुत प्राणिष्वसञ्चेष्टितम्।
आहोस्वित्प्रसवोममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरूधा-
मित्यारूढबहुप्रतर्कमपरिच्छेदाकुलं मे मनः।।वही : ५/९।

9 अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं

धीवरसे अभिज्ञानस्वरूप अंगूठी प्राप्त कर राजा, शकुन्तला वियोगसे दुःखी हो जाता है तथापि लोकधर्मका पालन करते हुए धीवरको पुरस्कृत करना नहीं भूलता। कोतवाल राजाका आदेश सुनाता है।[1]

षष्ठ अङ्कमें ही धनमित्र नामक सन्तानहीन व्यापारीकी मृत्यु पर मन्त्री उसकी सम्पत्तिको राजकीय वस्तु कहता है। किन्तु दुष्यन्त उस सम्पत्तिका अधिकार व्यापारीके गर्भस्थ शिशुको प्रदान करता है। साथ ही घोषणा करवाता है कि अपने सम्बन्धियोंसे वियुक्त प्रजाजन दुष्यन्तको ही अपना सम्बन्धी समझे।[2]

शकुन्तला वियोगके दुःखसे अशक्त भी कालिदासका पार्थिव मातलिसे इन्द्रका सन्देश पाकर तत्क्षण राक्षसोंके विनाश हेतु तत्पर हो उठता है।

निष्कर्ष यह कि कालिदासका नायक 'पार्थिव' दुष्यन्त मानवीय गुणोंके प्रभावसे बार-बार लोक-पथसे भ्रष्टोन्मुख तो होता है किन्तु लोक-जीवनके नियमनको धर्म समझने वाला कालिदास जैसा अनुशासक ततद् स्थानोंपर परिस्थिति रूपमें उपस्थित होकर अपने 'पार्थिव' को पथभ्रष्ट होनेसे बचाकर कर्तव्योन्मुख कर देता है।

इसी प्रकार 'भरतवाक्य' का द्वितीय चरण **सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम् भी** आस्वादनीय है। वस्तुतः कालिदास प्रकर्षकी गतिका क्रम भली-भाँति जानते हैं। उदात्तता उत्तरोत्तर वृद्धि तथा श्रेष्ठताको ही प्राप्त होनी चाहिए न कि निम्नताको। यही कारण है कि वे राजाको लोकसाधनमें अनुशासित कर उसे ज्ञानसम्पन्न साधकोंके उदात्त वचनोंका कवच पहनाना आवश्यक समझते हैं। लोकजीवनके समस्त प्रभावोंको आत्मस्थ कर साधनासे तप्त ज्ञानगरिष्ठोंकी वाणीका प्रभाव ही किसी राजाके समस्त कार्योंका अतिक्रामक होता है। अतः कवि उत्तम लोक-जीवनकी निरन्तरताके निमित्त, सोनेपर सुहागेके समान राजाके कर्तव्य-पालनमें ज्ञान-गरिष्ठोंकी वाणीका तेज भी मिला देता है। कवि जानता है कि जो दृष्ट है उसका नियमन तो पार्थिव कर लेगा किन्तु इस सन्तुलनसे युक्त सृष्टिमें जो अदृष्ट है उसका नियमन तो ब्रह्मज्ञानसे युक्त अन्तर्दृष्टि प्राप्त ज्ञानीजन ही कर सकते हैं। कालिदास प्रमाणस्वरूप प्रथम अङ्कमें ही वैखानसके मुखसे मानो भविष्य वाणी करवाते हैं।[3]

पुनः चतुर्थ अङ्कमें ऋषि कण्व भी उक्त आशीषका अनुमोदन करते प्रस्तुत होते हैं।[4]

रूपं दृष्टवा कोऽन्योविचारयति? वही : पृ० २७९।

1 एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसम्मितः प्रसादोऽपि दापितः। वही : पृ० ३१४।

2 येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।वही : ६/२३।

3 जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवं गुणोपेतं चक्रवर्तिनमाप्नुहि।।वही : १/१२।

4 ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव।

नाटकके फलरूप दुष्यन्त-शकुन्तलाके व्यङ्ग्यस्वरूप चक्रवर्तीपुत्र सर्वदमनकी भी प्राप्ति उक्त ज्ञान-गरिष्ठोंकी वाणीका आश्वासन तथा सार्थकत्व ही है।

चतुर्थ अङ्कमें ही लोक-नियामक वाणीके पथ-प्रदर्शक महर्षि कण्वके लोक-व्यवहारके इस आदर्श प्रतिमानसे कौन लोकचिन्तक सहमत नहीं होगा-

वनौकसोऽपि सन्तो लौकिकज्ञा वयम्।

इसी क्रम में, पति गृह जाती हुई शकुन्तलासे कहे गए कण्वके निम्नलिखित वचन मानो आदर्श लोक-जीवनकी आधार शिलाको स्थापित करते हैं।[1]

राजा दुष्यन्तकी प्रशंसामें कहा गया शाङ्र्गरवका वचन एक लौकिक आदर्श ही हो गया है।[2] इसमें लोक-नियमनका उदात्तस्वरूप वर्णित है अथवा ज्ञान-श्रेष्ठ शाङ्र्गरवका यह कथन लोक का आदर्श होना ही चाहिए ऐसा मान कर ही कालिदास कहते हैं अथवा प्रार्थना करते हैं कि-

सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।

जैसा कि पूर्वमें कहा गया है, ध्वन्यात्मकता कालिदासकी शैलीका वैशिष्ट्य है। अतः कालिदास अभीप्सितको 'ध्वनि' ही रखते है, अभिधेय नहीं। शाकुन्तलम् में नाट्यधर्मके व्याजसे वस्तुतः उन्होंने लोकधर्मकी स्थापनाका ही प्रयास किया है। कदाचित् उन्हें इस कथनपर पूर्ण विश्वास था कि यदि ऋषि-आशीष प्राप्त दुष्यन्त ज्ञान-गरिष्ठोंके प्रभावसे भरत जैसा चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त कर सकता है तो ज्ञान-वृद्ध, तेजस्वी, तपःपूत महर्षि मरीचिका वचन लोकोपकारक क्यों नहीं हो सकता? तभी तो वह 'दुष्यन्तके

सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पुरूमवाप्नुहि।।वही : ४/७।

1 शुश्रूषष्व गुरुन्कुरुप्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।
तथा च-

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्।। वही : ४/१८-२०।

2 भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।। वही : ५/१२।

लिए दिए गए आशीर्वचन' के व्याजसे लोक नियमन हेतु मरीचिकी प्रामाणिक वाणीका उद्घोष करवाते हैं।[1]

उक्त पद्यके माध्यमसे वस्तुतः कालिदासने प्रकृतिके समस्त तत्त्वोंमें निहित अन्योन्याश्रयिताके बोधको जाग्रत करनेका प्रयत्न किया है।

भारतीय संस्कृतिमें लोक-जीवनका मूल आधार पुरुषार्थ-चतुष्टयकी सिद्धि है। धर्म-अर्थ-कामकी पूर्तिका कथन कर लेनेपर कालिदास 'शाकुन्तलम् ' के भरतवाक्यमें मोक्षका प्रबल रूपमें समर्थन करते हैं जब वह स्वयंके लिए मोक्षकी याचना करते हुए प्रस्तुत होते हैं। वस्तुतः मोक्षका द्विविध भाव हो सकता है। एक तो धर्म-अर्थ तथा कामका साधन करते हुए जीवनका यथार्थस्वरूप समझ कर साक्षात् निर्वाण प्राप्त कर लेना अर्थात् जीवितमुक्ति प्राप्त कर लेना। अन्य शब्दोंमें कहें तो संसारमें निरासक्त भावसे निष्काम कर्मयोगी होकर जीना और दूसरा जीवनोपभोग करते हुए सत्कर्मोंके प्रभावसे जन्म-मृत्युके चक्रसे मुक्त होकर भक्तियोगके कारण उस परमधाममें पहुँच जाना जिसके विषयमें स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है।[2]

शाकुन्तलके भरतवाक्यके तृतीय तथा चतुर्थ चरणके परिप्रेक्ष्यमें नाटकका सूक्ष्म अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि कालिदास उभयविध मोक्षके समर्थक थे। यही कारण है कि उन्होंने निर्वाण अर्थात् जीवितमुक्तिके प्रमाणस्वरूप महर्षि कण्व तथा महर्षि मरीचिका चरित्र उपस्थापित किया, पुनः चराचर, सूक्ष्म-स्थूल, दृश्य-अदृश्य तथा कल्पित-अकल्पित स्वभाव वाले समस्त ब्रह्माण्डके कारणस्वरूप भगवान् शिवकी सर्वसमर्थतामें आस्था प्रकट करते हुए स्वयं के लिए जरा-मृत्युके निवारक परम-लोककी प्राप्तिस्वरूप मोक्षकी कामना की है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कालिदासने एक ही भरतवाक्यमें काव्यकी प्राणस्वरूपा व्यञ्जनाके माध्यमसे आदर्श लोक-चेतनाका महत्तम निदर्शन प्रस्तुत किया है। उनके आदर्श उपस्थापनकी

---

1 तव भवतु विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं प्रीणयस्व।
युगशतपरिवर्तानेवमन्योन्यकृत्यै-
र्नयतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।। वही : ७/३४॥

2 न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम् परमं मम।। श्रीमद्भगवद्गीता : १५/६।।

चरमसीमाकी अनुभूति कर हृदय भावविभोर हो उठता है जब दृष्टि इस ओर जाती है कि उन्होंने अपना भरतवाक्य भी सतत लोक-कर्म-निरत नायक 'पार्थिव' दुष्यन्तके मुखसे ही युगद्रष्टा भगवान् मरीचिके सम्मुख उद्घोषित करवाया है।

निःसन्देह कालिदास लोकजीवनके आदर्शस्वरूपके प्रशंसक थे। उन्हें लोकजीवनके सूक्ष्म सन्तुलनमें तनिक भी अनुशासनहीनता स्वीकार्य नहीं थी।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची

1. भरतकृत नाट्यशास्त्र : आचार्य बाबूलाल शुक्ल, चौखम्बा संस्कृत संस्थान प्रकाशन, संस्करण- सन् - २०००।
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् : व्याख्याकार- कपिलदेव द्विवेदी, साहित्य संस्थान प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्- १९७९।
3. श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर, सन् – २००८।